

भारत में औद्योगिकीकरण के परिणामस्वरूप श्रमिक अधिकारों और श्रम-नीतियों का ऐतिहासिक मूल्यांकन

चंचल सिंह बोरा¹ and डॉ. सुरेश चंद²

¹शोधार्थी, इतिहास-विभाग

²शोध निर्देशक, इतिहास-विभाग

विक्रांत विश्वविद्यालय ग्वालियर (म.प्र.)

सारांश

भारत में औद्योगिकीकरण ने श्रमिक अधिकारों, श्रम संबंधों और औद्योगिक नीतियों की संरचना पर गहरा प्रभाव डाला। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से औद्योगिक विकास ने पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली, श्रम विभाजन, शहरीकरण और कारखाना-आधारित कार्य-व्यवस्था को जन्म दिया, जिसके परिणामस्वरूप श्रमिक वर्ग का शोषण, लंबे कार्य घंटे और कम मजदूरी जैसी स्थितियाँ विकसित हुईं। यह समीक्षा-पत्र भारत में औद्योगिकीकरण के प्रभावों के संदर्भ में श्रमिक अधिकारों और श्रम नीतियों के ऐतिहासिक विकास को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करता है, साथ ही स्वतंत्रता-पूर्व और स्वतंत्रता-उपरांत श्रम कानूनों के परिवर्तन को विश्लेषित करता है।

मुख्य संकेतक: श्रमिक अधिकार, श्रम-नीतियाँ, ट्रेड यूनियन, सामाजिक सुरक्षा।

परिचय

भारत में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया मुख्यतः ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दौरान आरंभ हुई। औद्योगिकीकरण के शुरुआती चरण में श्रमिकों के लिए कोई निश्चित सुरक्षा, कार्य समय सीमा या विधिक अधिकार नहीं थे। विद्रोह के विकास ने श्रमिकों की संख्या में वृद्धि की लेकिन श्रम-परिस्थितियों में सुधार नहीं हुआ। इसी सामाजिक-आर्थिक दबाव के फलस्वरूप 19वीं और 20वीं शताब्दी में भारत ने श्रम जुटाने की दिशा में कई महत्वपूर्ण कदम उठाए (राँय, 2016)।

भारत में औद्योगिकीकरण ने श्रमिक अधिकारों और श्रम-नीतियों के विकास को एक नई दिशा प्रदान की, ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दौरान कारखाना प्रणाली के उदय के साथ आधुनिक श्रमिक वर्ग का निर्माण हुआ।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वस्त्र, रेल, जूट और इस्पात उद्योगों के विस्तार के परिणामस्वरूप लाखों श्रमिक कारखानों से जुड़े, परंतु प्रारंभिक चरण में कार्य-परिस्थितियाँ अत्यंत कठोर थीं। लंबी कार्य अवधि, न्यूनतम मजदूरी का अभाव, बाल श्रम और सामाजिक सुरक्षा के बिना श्रम का दोहन सामान्य स्थिति थी। इन परिस्थितियों ने श्रम कानूनों की आवश्यकता को जन्म दिया, जिसके अंतर्गत 1881 का फैक्ट्री एक्ट, 1911 संशोधन, 1926 ट्रेड यूनियन एक्ट, 1934 भुगतान वेतन अधिनियम और 1947 औद्योगिक विवाद अधिनियम ने श्रमिक संरक्षण के लिए विधिक ढांचा तैयार किया। स्वतंत्रता के बाद श्रमिक हितों को संवैधानिक मूल्यों न्याय, समानता और गरिमा से जोड़ा गया, जिसके तहत कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम 1952, बोनस अधिनियम 1965, समान वेतन अधिनियम 1976 और ग्रेच्युटी अधिनियम 1972 लागू किए गए। 1991 के उदारिकरण के बाद श्रम बाज़ार में लचीलापन, निजीकरण और अनुबंध श्रम व्यवस्था बढ़ी, जिससे श्रमिक सुरक्षा ढांचे को नई चुनौतियाँ मिलीं। हाल के वर्षों में श्रम संहिताओं ने 29 श्रम कानूनों को 4 नए कोड में समाहित कर श्रम प्रशासन को सरल बनाने की दिशा में कदम उठाया। इस प्रकार औद्योगिकीकरण ने भारत में श्रमिक अधिकारों के विकास, सुरक्षा सुधारों और श्रम-नीतियों की संरचना को ऐतिहासिक रूप से आकार प्रदान किया।

औद्योगिकीकरण और श्रमिक वर्ग का उदय

भारत में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 19वीं शताब्दी के आरंभ में तब तेज़ हुई जब औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत ब्रिटिश पूंजी तथा तकनीकी संरचनाओं का विस्तार हुआ, जिसने पारंपरिक कृषि-आधारित उत्पादन प्रणाली को चुनौती देते हुए श्रम और पूंजी के नए संबंध स्थापित किए। वस्त्र उद्योग, जूट मिलों, लौह-इस्पात उत्पादन, रेलवे के विस्तार और कोयला खदानों के विकास ने भारत में कारखाना-आधारित उत्पादन प्रणाली को जन्म दिया, जिसके परिणामस्वरूप संगठित श्रमिक वर्ग का निर्माण हुआ। ग्रामीण और जाति-आधारित श्रम संरचना से हटते हुए भारत में एक नया मजदूर वर्ग उभरा, जो पहली बार निर्धारित कार्य घंटे, नियमित मजदूरी और आधुनिक औद्योगिक श्रम मानकों के अधीन कार्यरत था। औद्योगिकीकरण ने न केवल उत्पादन की विधियों को बदला बल्कि श्रम संबंधों और सामाजिक ढांचे को भी नए रूप में ढाला, जिसमें श्रमिक अब न तो भूमि पर निर्भर थे और न ही पारंपरिक जातीय व्यवसाय पर, बल्कि वे वेतन-आधारित औद्योगिक व्यवस्था का हिस्सा बन गए। ब्रिटिश औद्योगिक नीतियों के कारण एक नया आर्थिक ढांचा अस्तित्व में आया जिसने किसानों, कारीगरों और पारंपरिक

शिल्पकारों को कारखाना श्रमिकों में परिवर्तित कर दिया, विशेषकर कपड़ा उद्योग और रेलवे क्षेत्र में श्रमिक संख्या में तीव्र वृद्धि हुई।

औद्योगिकीकरण से पूर्व भारतीय सामाजिक संरचना मुख्यतः जमींदारी, कृषक-आधारित अर्थव्यवस्था और जातीय पेशों की कठोर सीमाओं पर आधारित थी, जिसमें व्यवसायिक चयन जन्माधारित था। परंतु औद्योगिक विकास के बाद उत्पादन संबंध जाति-व्यवस्थाओं के बजाय आर्थिक आवश्यकताओं एवं तकनीकी कौशल पर आधारित होने लगे। यहीं से श्रमिक वर्ग की स्वतंत्र पहचान उभरती है, जिसे वेतन, श्रम अनुशासन, उत्पादन क्षमता और बाजार की मांगों के अनुसार परिभाषित किया जाने लगा। औद्योगिक श्रम केंद्रों जैसे मुंबई, कोलकाता, चेन्नई, कानपुर और अहमदाबाद में बड़ी संख्या में ग्रामीण मजदूर काम की तलाश में आने लगे, जिससे शहरों में जनसंख्या घनत्व बढ़ा और मजदूर बस्तियाँ तथा श्रमिक कॉलोनियों का निर्माण हुआ। इन शहरी केंद्रों ने श्रमिक वर्ग की सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक पहचान को आकार दिया, जहाँ कारखाना मालिक (पूंजीपति वर्ग) और मजदूर (प्रोलितारियट वर्ग) के बीच स्पष्ट आर्थिक विभाजन उभरा, जिसने आगे चलकर वर्ग संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार की। यह परिवर्तन केवल उत्पादन प्रणाली तक सीमित नहीं था बल्कि सामाजिक गतिशीलता और वर्गीय चेतना को भी उद्भवित करता है, जिसमें श्रमिक स्वयं को संगठित आर्थिक शक्ति के रूप में देखने लगे।

औद्योगिकीकरण के प्रारंभिक चरण में श्रमिक वर्ग की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। मजदूरी कम, कार्य घंटे अत्याधिक लंबे, कार्यस्थलों पर सुरक्षा का अभाव, बाल श्रमिकों का व्यापक प्रयोग, महिला श्रमिकों का शोषण और आवासीय स्थितियाँ अत्यंत अस्वास्थ्यकर थीं। इसी असमानता और पूंजीवादी शोषण के कारण श्रमिकों में वर्ग चेतना तथा संघीय संगठन की भावना मजबूत हुई। 1881 के फैक्ट्री एक्ट से लेकर 1911, 1922 और 1934 के संशोधित अधिनियमों ने पहली बार श्रमिकों के कार्य घंटे, बाल श्रम निषेध और महिलाओं की श्रम स्थितियों में सुधार हेतु नियम बनाए, जो औद्योगिक श्रम वर्ग के संगठित उभार का पहला कानूनी प्रतिनिधित्व था। 1920 में AITUC की स्थापना और 1930 के दशक में ट्रेड यूनियनों के विस्तार ने श्रमिक वर्ग को राजनीतिक अधिकारों और सामूहिक संघर्ष का मंच प्रदान किया। औद्योगिक विवाद अधिनियम (1947) ने श्रमिक आंदोलन को वैधानिक दर्जा देते हुए मध्यस्थता, समझौते और श्रम न्यायालयों की स्थापना की, जिससे श्रमिक वर्ग पहली बार नियोजित कानूनी संरक्षण के अंतर्गत आया।

औद्योगिकीकरण ने भारतीय अर्थव्यवस्था को केवल उत्पादन के स्तर पर ही नहीं, सामाजिक संरचना के स्तर पर भी नया आकार दिया। कृषि से उद्योग की ओर श्रम प्रवाह ने असंख्य ग्रामीण परिवारों को नए

आर्थिक अवसर दिए, हालांकि इस परिवर्तन में विस्थापन, असुरक्षा और वर्गीय शोषण भी शामिल थे। श्रमिक वर्ग के विकास के साथ ही औद्योगिक शहरों में बहु-जातीय, बहु-भाषिक और बहु-धार्मिक सामाजिक समूहों का निर्माण हुआ, जिसने पारंपरिक जाति-व्यवस्था की कठोरता को चुनौती दी और एक वर्ग-आधारित समाज की नींव रखी। शहरी औद्योगिक केंद्रों में श्रमिकों के आवास, सामाजिक सेवाएँ, शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं का विस्तार हुआ, जो धीरे-धीरे आधुनिक सामाजिक संरचना और नागरिकता की अवधारणा को मजबूत करता है।

स्वतंत्रता के पश्चात श्रम अधिकारों और श्रमिक कल्याण को संवैधानिक संरक्षण प्रदान किया गया। संविधान के नीति निर्देशक तत्वों में श्रमिकों के जीवन-स्तर, कार्य-स्थितियाँ और सामाजिक सुरक्षा को प्राथमिकता दी गई। 1952 में कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम, 1972 में ग्रेच्युटी अधिनियम, 1976 में समान वेतन अधिनियम, कर्मचारी राज्य बीमा योजना और 2009 के सामाजिक सुरक्षा विस्तार अधिनियम ने औद्योगिक श्रमिकों के जीवन-स्तर को सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1991 के आर्थिक उदारीकरण के बाद वैश्विक बाज़ार की प्रतिस्पर्धा, निजीकरण, अनुबंध श्रम और तकनीकी स्वचालन ने श्रमिक वर्ग को नए आर्थिक दबाव में डाला, जिससे असंगठित क्षेत्र का विस्तार हुआ और स्थायी रोजगार के अवसर घटे। यद्यपि नए श्रम संहिताओं (2020) ने श्रम कानूनों को सरल और एकीकृत करने का प्रयास किया परंतु श्रमिक सुरक्षा और स्थिरता की चर्चा अभी भी नीति बहस का केंद्र बनी हुई है।

समग्र रूप से देखा जाए तो औद्योगिकीकरण ने भारत में श्रमिक वर्ग के उदय को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन के एक केंद्रीय तत्व के रूप में स्थापित किया। यह वर्ग केवल उत्पादन करने वाली आर्थिक इकाई नहीं रहा बल्कि संघर्ष, संगठन, अधिकार और सामाजिक भागीदारी से युक्त आधुनिक नागरिक इकाई बन गया। श्रमिक वर्ग के उदय ने वर्ग-चेतना, लोकतांत्रिक अधिकारों, उद्योग-श्रम संबंधों और सामाजिक न्याय के प्रश्नों को आधुनिक भारतीय विकास-चर्चा का मूल आधार बनाया। आज का औद्योगिक भारत इसी ऐतिहासिक श्रम परिवर्तन का परिणाम है जहाँ श्रमिक वर्ग न केवल उत्पादन तंत्र का आधार बना हुआ है बल्कि सामाजिक समानता, आर्थिक न्याय और मानवाधिकारों की लड़ाई का भी प्रमुख प्रतिनिधि है। औद्योगिक क्रांति ने भारत में श्रमिक वर्ग का उदय किया जिसे आधुनिक औद्योगिक श्रमिक के रूप में पहचाना गया। जूट, कपड़ा, रेलवे और लौह-इस्पात उद्योगों में श्रमिकों की भागीदारी बढ़ी (Sen, 1999)। कार्य घंटे 12-14 घंटे तक

अस्वास्थ्यकर कार्य वातावरण
न्यूनतम मजदूरी का अभाव
सामाजिक सुरक्षा का अभाव
इन परिस्थितियों ने श्रम कानूनों की आवश्यकता को जन्म दिया।

उपनिवेश कालीन श्रम-नीतियाँ और सुधार

भारत में उपनिवेश कालीन श्रम-नीतियों की पृष्ठभूमि ब्रिटिश औद्योगिक विस्तार, पूंजीवादी नियंत्रण और उत्पादन-प्रणाली को सुदृढ़ करने की आर्थिक रणनीति से निर्मित हुई। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से औद्योगीकरण के साथ ब्रिटिश शासन ने भारतीय कच्चे माल, विशेषकर कपास, जूट, कोयला, लौह-अयस्क और चाय उत्पादन को वैश्विक बाजार में सप्लाई करने हेतु व्यापक श्रम-नियंत्रण तंत्र विकसित किया। औद्योगीकरण का आरंभ भारतीय श्रम का शोषण, न्यूनतम मजदूरी संरचना, अत्यधिक कार्य घंटे, असुरक्षित कार्य-परिस्थितियाँ और श्रमिकों की सामाजिक-आर्थिक निर्भरता से हुआ। प्रारंभिक चरण में श्रमिक किसी भी कानूनी संरक्षण से वंचित थे। कारखानों, खान उद्योग, रेलवे निर्माण और प्लांटेशन में मजदूरों को 12 से 14 घंटे कार्य कराया जाता था, जिनमें स्वास्थ्य सुरक्षा, आवास, चिकित्सीय सहायता और मानवाधिकारों की कोई अवधारणा मौजूद नहीं थी। इस कठोर श्रम-परिस्थिति ने उपनिवेश कालीन श्रम सुधारों और विधियों को जन्म दिया, परंतु यह सुधार वास्तविक मानवाधिकार की बजाय आर्थिक नियंत्रण और उत्पादन-क्षमता सुनिश्चित करने के उद्देश्य से थे।

ब्रिटिश शासन की श्रम नीतियाँ मूलतः दो स्तरों पर संचालित थीं, पहला, उत्पादन अनुशासन बनाए रखना, और दूसरा श्रमिक असंतोष को नियंत्रित कर उद्योगों में स्थिरता सुनिश्चित करना। इसी उद्देश्य से 1881 का फैक्ट्री एक्ट लागू किया गया, जो भारत में श्रम नियमन की पहली औपचारिक विधि थी। इस अधिनियम ने बाल श्रमिकों की कार्य अवधि को सीमित करने और न्यूनतम कार्य दशाओं को निर्धारित करने का प्रयास किया। यद्यपि, यह अधिनियम मुख्यतः ब्रिटिश आलोचकों और यूरोपीय मानवाधिकार चिंताओं की प्रतिक्रिया के रूप में पारित हुआ, न कि भारतीय श्रमिकों की सुरक्षा के वास्तविक सुधार के उद्देश्य से। यह भी तथ्य उल्लेखनीय है कि प्रारंभिक चरण में फैक्ट्री एक्ट केवल बड़े उद्योगों तक सीमित था, जिससे चाय बागानों, कोयला खानों और रेलवे निर्माण कार्य में लगे श्रमिक इसकी परिधि से बाहर रहे और उनके शोषण का स्वरूप अप्रभावित बना रहा।

1911 में फैक्ट्री एक्ट में संशोधन किया गया, जिसमें महिलाओं और बच्चों के कार्य घंटे पर और अधिक नियंत्रण सुनिश्चित किया गया। यह संशोधन उस काल की उदारवादी आलोचनाओं और भारतीय श्रमिक आंदोलनों के प्रति राजनीतिक प्रतिक्रिया का परिणाम था। इसी दौर में बंगाल, बंबई और मद्रास में ट्रेड यूनियन गतिविधियाँ प्रारंभ हुईं, जिनका प्रभाव आगे चलकर 1920 में सर्वभारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना के रूप में सामने आया। यह घटना उपनिवेश काल में श्रमिक शक्ति के संगठित होने की दिशा में ऐतिहासिक मोड़ सिद्ध हुई। हालांकि ब्रिटिश प्रशासन ने ट्रेड यूनियनों को नियंत्रित करने और उनके बीच विभाजन उत्पन्न करने हेतु अनेक कानूनी साधनों का उपयोग किया, जिसमें 1926 का ट्रेड यूनियन एक्ट प्रमुख था। इस अधिनियम द्वारा यूनियनों को कानूनी मान्यता प्रदान की गई, परंतु राज्य को निगरानी और दमन का अधिकार भी मिला। इस प्रकार यह कानून श्रमिक संगठन को नियंत्रित करने और श्रम राजनीति को सीमित करने का साधन भी बना।

1934 के भुगतान वेतन अधिनियम ने मजदूरी कटौती, भुगतान में देरी और मनमानी वित्तीय नियंत्रण पर रोक लगाने का प्रयास किया। यह काल औद्योगिक तनाव, हड़तालों और श्रमिक आंदोलनों के तीव्र होने का काल था। रेलवे, जूट मिलों, कपड़ा उद्योगों और खदानों में श्रमिक असंतोष व्यापक रूप में दृश्य हो चुका था, जिसे दबाने और उत्पादन संकट से बचने के लिए ब्रिटिश शासन ने औद्योगिक विवादों के समाधान के कानूनी ढाँचे को मजबूत किया। स्वतंत्रता से ठीक पहले 1947 का औद्योगिक विवाद अधिनियम लागू हुआ, जिसका उद्देश्य श्रमिक-नियोक्ता संबंधों में संतुलन स्थापित करना, मध्यस्थता प्रणाली को विकसित करना और अनियंत्रित हड़तालों तथा तालाबंदी को नियंत्रित करना था।

यह कानून उपनिवेश काल की सबसे विस्तृत श्रम नीति थी जिसने आगे स्वतंत्र भारत में श्रम कानूनों की नींव का निर्माण किया। औपनिवेशिक श्रम नीतियों का स्वरूप स्पष्ट रूप से इस तथ्य की पुष्टि करता है कि ब्रिटिश शासन द्वारा किए गए सुधार मुख्यतः पूंजीवादी औद्योगिकीकरण को सुचारु रखने के लिए आवश्यक थे, न कि श्रमिक जीवन-स्तर या सामाजिक समानता सुनिश्चित करने के लिए। प्लांटेशन श्रम विशेष रूप से दयनीय स्थिति में था, जहाँ बंधुआ श्रम, श्रम अनुबंध, कठोर दंड और श्रमिकों की आवाजाही पर रोक जैसी स्थितियाँ प्रचलित थीं।

असम के चाय बागानों, बंगाल की जूट मिलों और बंबई की कपड़ा मिलों में श्रमिकों की जीवन-स्थितियाँ उपनिवेशवादी आर्थिक शोषण का प्रतीक थीं। श्रम को केवल उत्पादन क्षमता का साधन माना जाता था और श्रमिक अधिकारों की अवधारणा राजनीतिक नियंत्रण के अधीन थी। ब्रिटिश औद्योगिक पूंजीवाद ने भारतीय

श्रमिक वर्ग के जीवन को नियंत्रित, शोषित और निरंतर दमनात्मक श्रम वातावरण में बनाए रखने का प्रयास किया, जो उस युग की श्रम नीतियों के आधार में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

उपनिवेश कालीन श्रम सुधारों और नीतियों का ऐतिहासिक मूल्यांकन दर्शाता है कि ब्रिटिश शासन द्वारा लागू किए गए अधिकांश श्रम कानून श्रमिक कल्याण की वास्तविक चिंता से अधिक, श्रमिक असंतोष के प्रबंधन और औद्योगिक उत्पादन की निरंतरता सुनिश्चित करने के औजार थे। यद्यपि इन कानूनों ने भविष्य की श्रम नीतियों के लिए आधार तैयार किया, परंतु इनका प्राथमिक उद्देश्य उपनिवेशवादी शासन के हितों की रक्षा और भारतीय श्रमिक वर्ग की आर्थिक निर्भरता को सुनिश्चित करना था। इसी ऐतिहासिक संरचना के कारण स्वतंत्रता उपरांत भारतीय सरकार ने श्रम सुधारों को मानवीय, सामाजिक न्याय और श्रमिक कल्याण के व्यापक ढांचे में पुनर्गठित किया, जो आधुनिक श्रम अधिकारों और सामाजिक सुरक्षा तंत्र की वास्तविक नींव बना।

ब्रिटिश प्रशासन ने श्रमिक असंतोष को नियंत्रित करने तथा उत्पादन गति बनाए रखने हेतु प्रारम्भिक श्रम सुधारों को लागू किया:

वर्ष	श्रम कानून	उद्देश्य
1881	फैक्ट्री एक्ट	कार्य घंटों और बाल श्रमिक संरक्षण के नियम
1911	फैक्ट्री संशोधन अधिनियम	महिलाओं और बच्चों के कार्य घंटों में कमी
1926	ट्रेड यूनियन एक्ट	यूनियन को कानूनी मान्यता
1934	भुगतान वेतन अधिनियम	वेतन में कटौती व देरी नियंत्रण
1947	औद्योगिक विवाद अधिनियम	श्रम-शांति एवं मध्यस्थता प्रणाली

इन कानूनों के माध्यम से पहली बार श्रमिक अधिकारों को वैधानिक स्थिति प्राप्त हुई (मॉरिस, 2008)।

स्वतंत्रता के बाद श्रम-नीति विस्तार

स्वतंत्रता के बाद भारत में श्रम-नीति विस्तार ने राष्ट्रीय विकास, सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता के सिद्धांतों के अनुरूप श्रमिक अधिकारों को मजबूत करने की दिशा में एक निर्णायक भूमिका निभाई। 1947 के बाद भारतीय राज्य ने स्पष्ट रूप से यह मान्यता दी कि औद्योगीकरण के प्रभाव से उभरती श्रमिक चुनौतियों को केवल बाजार शक्तियों के हवाले नहीं छोड़ा जा सकता, बल्कि श्रम-संबंधों को विधिक ढांचे, सामाजिक

सुरक्षा तंत्र और संस्था आधारित संरक्षण की आवश्यकता है। संविधान के भाग-4 में निहित राज्य के नीति निदेशक तत्वों ने कार्यस्थल सुरक्षा, समान मजदूरी, स्वास्थ्य संरक्षण, श्रमिक आवास सुविधा और सामाजिक कल्याण को राष्ट्रीय दायित्व के रूप में स्थापित किया।

1952 का कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम इस दिशा में पहली व्यापक शुरुआत थी, जिसने न केवल श्रमिकों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान की बल्कि वृद्धावस्था और आकस्मिक परिस्थितियों में आर्थिक अस्थिरता से बचने का मार्ग भी दिखाया। इसके पश्चात 1955 में कर्मचारियों के राज्य बीमा अधिनियम ने औद्योगिक श्रमिकों को चिकित्सा लाभ, रोजगार के दौरान दुर्घटनाओं पर मुआवज़ा और सामाजिक सुरक्षा कवरेज प्रदान किया, जो औद्योगिक उत्पादन प्रणाली में कार्यरत मजदूरों के स्वास्थ्य अधिकारों की पहली कानूनी ढाल बनी। इसी क्रम में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम 1948 और भुगतान बोनस अधिनियम 1965 ने मजदूरी संरचना को अधिक न्यायपूर्ण, संतुलित और व्यवस्थित करने में योगदान दिया, जिससे श्रमिकों को श्रम के अनुरूप आर्थिक प्रतिफल सुनिश्चित किया जा सका।

1970 के दशक को भारत में श्रम-नीति विस्तार का सबसे प्रभावशाली काल माना जाता है। 1972 का ग्रेच्युटी अधिनियम श्रमिकों के सेवा-समाप्ति लाभों को विधिक दर्जा प्रदान करता है, वहीं 1976 के समान वेतन अधिनियम ने लैंगिक भेदभाव को समाप्त कर नियुक्ति और मजदूरी दोनों में समानता स्थापित करने का प्रयास किया। इस अधिनियम ने औद्योगिक क्षेत्रों में महिला श्रमिकों की सहभागिता, सम्मान और सामाजिक पहचान को सशक्त बनाया। इसके साथ ही मजदूर-नियोक्ता संबंधों के सामंजस्य को बनाए रखने हेतु 1947 के औद्योगिक विवाद अधिनियम में समय-समय पर संशोधन किए गए, जिनमें सामूहिक सौदेबाजी, मध्यस्थता, श्रम न्यायाधिकरण और विवाद निपटान तंत्र को संस्थागत रूप से सुदृढ़ किया गया। स्वतंत्र भारत में ट्रेड यूनियनों की भूमिका भी श्रम नीति विस्तार की प्रमुख धुरी रही। 1950 से 1980 के बीच ट्रेड यूनियनों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई, जिसने लोकतांत्रिक श्रम चेतना को मजबूत आधार प्रदान किया, यद्यपि कभी-कभी राजनीतिक प्रभावों के कारण उनकी सामूहिक सौदेबाजी क्षमता प्रभावित भी हुई।

1991 के आर्थिक उदारीकरण के बाद श्रम-नीति विस्तार का स्वरूप बदलने लगा। वैश्विक निवेश, औद्योगिक प्रतिस्पर्धा और निजीकरण के दौर ने श्रम बाजार को लचीला बनाने की मांग को बढ़ावा दिया। अनुबंध श्रम, आउटसोर्सिंग और असंगठित क्षेत्र के विस्तार ने श्रमिकों की सुरक्षा और अधिकारों के पारंपरिक ढांचों को चुनौती दी। इसी संदर्भ में 2020 में चार नए श्रम संहिताओं का निर्माण एक महत्वपूर्ण सुधार साबित हुआ वेतन संहिता, औद्योगिक संबंध संहिता, सामाजिक सुरक्षा संहिता और व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं

कार्यस्थितियाँ संहिता। इन संहिताओं का उद्देश्य 29 बिखरे हुए श्रम कानूनों को समेकित कर श्रमिक कल्याण, श्रम बाजार पारदर्शिता और प्रशासनिक सरलीकरण को बढ़ाना था। हालांकि इन सुधारों पर यह आलोचना भी की गई कि लचीलापन बढ़ाने की प्रक्रिया श्रमिक संरक्षण को कमजोर कर सकती है, असंगठित, दिहाड़ी और प्रवासी श्रमिकों के संदर्भ में। स्वतंत्रता के बाद श्रम नीति विस्तार ने भारत में श्रमिक अधिकारों को संवैधानिक ढांचा, सामाजिक सुरक्षा और आर्थिक सम्मान प्रदान किया, यद्यपि बदलते औद्योगिक परिदृश्य में इन अधिकारों की सतत समीक्षा और पुनर्संरचना आज भी आवश्यक है।

1950 के बाद भारतीय राज्य ने समाजवादी विकास मॉडल के तहत श्रमिक हित संरक्षण पर बल दिया।

1952 – कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम

1972 – ग्रेच्युटी अधिनियम

1976 – समान वेतन अधिनियम

2009 – सामाजिक सुरक्षा अधिनियम विस्तार

स्वतंत्र भारत में श्रमिक हितों को संविधान के न्याय, समानता और गरिमा सिद्धांतों से जोड़ा गया (भट्टाचार्य, 2014)।

श्रम सुधार और ट्रेड यूनियन आंदोलन

औद्योगीकरण के साथ श्रमिक संगठनों का विकास हुआ।

1920: AITUC

1948: INTUC

1970: CITU

ट्रेड यूनियनों ने मजदूरी वृद्धि, कार्य समय सीमांकन, बोनस और सुरक्षा की मांगों को संगठित रूप दिया (जोशी, 2003)।

इन संगठनों की सक्रिय भूमिका ने भारत में श्रम नीतियों को लोकतांत्रिक संरचना प्रदान की।

नव-उदारवाद और समकालीन श्रम नीतियाँ

1991 के आर्थिक उदारीकरण के बाद श्रम बाजार में लचीलापन,

निजीकरण और वैश्विक निवेश का दौर प्रारम्भ हुआ।

अनुबंध श्रम

आउटसोर्सिंग

कार्यस्थल स्वचालन

इन आश्रितों ने श्रमिक सुरक्षा की अवधारणा को चुनौतियाँ प्रदान कीं (शर्मा, 2006)। इसी संदर्भ में 2020 में नए श्रम संहिताओं को लागू किया गया:

वेतन संहिता

औद्योगिक संबंध संहिता

सामाजिक सुरक्षा संहिता

व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं कार्य स्थितियाँ संहिता

ये संहिताएँ श्रम कानूनों के सरलीकरण और डिजिटलीकरण को बढ़ावा देती हैं।

विश्लेषण और चर्चा

ऐतिहासिक मूल्यांकन से स्पष्ट है कि भारत में श्रमिक अधिकारों और श्रम नीतियों की प्रगति औद्योगिकीकरण के प्रभाव का प्रत्यक्ष परिणाम है।

उपनिवेशवादी नियंत्रण → श्रमिक शोषण

स्वतंत्रता उपरांत → श्रमिक संरक्षण

उदारीकरण काल → श्रमिक लचीलेपन और श्रमिक सुरक्षा में संघर्ष

औद्योगिकीकरण के विकास चरणों ने श्रम अधिनियमों को क्रमशः मानवीय, सामाजिक और आर्थिक सिद्धांतों के साथ जोड़ा।

निष्कर्ष

भारत में औद्योगिकीकरण ने श्रमिक अधिकारों के विकास की नींव रखी, जिसने आधुनिक श्रम-नीतियों, ट्रेड यूनियन गठन और सामाजिक सुरक्षा ढांचे को आकार दिया। आज की श्रम संरचना ऐतिहासिक रूप से विकसित नीतियों का परिणाम है, जहाँ उत्पादन और पूंजी-प्रधान विकास के बीच श्रमिक सम्मान, सुरक्षा और हित संरक्षण संतुलन की आवश्यकता बनी हुई है।

संदर्भ सूची

1. भट्टाचार्य, एस. (2014). भारत में श्रम और श्रमिक वर्ग। दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
2. चंदावरकर, आर. (1994). भारत में औद्योगिक पूंजीवाद की उत्पत्ति। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. जोशी, ए. (2003). आधुनिक भारत में ट्रेड यूनियन। जयपुर: रावत पब्लिकेशंस।

4. मॉरिस, डी. (2008). औपनिवेशिक श्रम नीतियां और भारतीय कार्यबल। लंदन: रूटलेज।
5. रॉय, टी. (2016). भारत का आर्थिक इतिहास, 1857-1947। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
6. सेन, ए. (1999). औपनिवेशिक भारत में औद्योगिक श्रम और विकास। नई दिल्ली: सेज।
7. शर्मा, आर. (2006). भारत में वैश्वीकरण और श्रम बाजार सुधार। मुंबई: हिमालय पब्लिशिंग।